

## प्राक्कथन

15 अगस्त, 2007 को हम सब भारतवासियों ने देश की स्वतंत्रता की साठवीं वर्षगाँठ मनाई। स्वतंत्रता दिवस वास्तव में हममें से प्रत्येक के लिए एक विशेष दिन है। प्रत्येक वर्ष उस दिन सुबह मेरे दो कार्यक्रम तय होते हैं। पहला है, बलुआ पत्थर से बनी मुगलकालीन शाही इमारत लाल किला पर होनेवाले राजकीय आयोजन में शामिल होना, जहाँ प्रधानमंत्री राष्ट्रीय ध्वज फहराते हैं और राष्ट्र को संबोधित करते हैं। इसी किले और इसके ऐतिहासिक परिवेश में 1857 में हुए भारत के पहले स्वतंत्रता संग्राम सहित हमारी मातृभूमि की पुरातन काल से आधुनिक युग तक की यात्रा में आए कई निर्णायक मुकामों के पदचिह्नों को अब भी देखा जा सकता है। एक सुखद संयोग से भारत की आजादी की साठवीं वर्षगाँठ उस गौरवपूर्ण लड़ाई की एक सौ पचासवीं जयंती के रूप में मनाई जा रही है, जिसमें हिंदुओं, मुसलमानों, राजाओं, रानियों और आम लोगों ने कंधे से कंधा मिलाकर विदेशी शासन के खिलाफ जंग लड़ी।

इसी दिन का मेरा दूसरा कार्य है लाल किला के समारोह से घर लौटकर अपने परिवार, सहयोगियों, मित्रों और ऑफिस स्टाफ के साथ अपने घर के लॉन में तिरंगा फहराना और राष्ट्रगीत गाना। यह कार्यक्रम प्रचार की चकाचौंध से दूर, सादगी से मनाया जाता है। परंतु यह मुझे असीम संतोष देता है, क्योंकि यह अपनी मातृभूमि को श्रद्धा व्यक्त करने का हमारा अपना तरीका है। यदि भारत माता दिव्य है, और जैसा कि मैं सचमुच विश्वास करता हूँ कि वह है, तो मेरा यह विश्वास मुझे सिखाता है कि व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों रूपों में उस देवी की उपासना का अपना महत्त्व है।

इस वर्ष अपने दोनों कार्यों को पूरा करने के बाद मैंने बाकी बचे दिन का अधिकांश भाग विभिन्न टी.वी. चैनलों को देखने और अखबार पढ़ने में बिताया; इन सभी में आजादी की साठवीं वर्षगाँठ को विशेष स्थान दिया गया था। एक टी.वी. चैनल ने 'स्वतंत्र भारत को परिभाषित करनेवाले दस प्रकरण' नाम से एक फीचर प्रस्तुत किया। उसमें से दो पर पहले लिये गए साक्षात्कार में रखे गए मेरे विचार प्रस्तुत किए गए थे—वे थे 1975-77 का आपातकालीन शासन, 1980 के दशक के अंत एवं 1990 के दशक के आरंभ में चलाया गया रामजन्मभूमि आंदोलन।

अन्य टी.वी. चैनलों और अखबारों द्वारा ऐसे ही फीचर पेश किए गए थे। मीडिया द्वारा

उल्लिखित कुछ अन्य 'परिणामकारी' राजनीतिक घटनाक्रम थे—(1) 1947 में हुआ भारत का विभाजन, (2) 1948 में हुई महात्मा गांधी की हत्या, (3) भारत के पहले गृह मंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल द्वारा 562 रियासतों का भारत में विलय, (4) भारत को गणतंत्र घोषित किए जाने के बाद सन् 1952 में हुए पहले आम चुनाव, (5) 1962 में चीन द्वारा हमला, (6) 1969 में हुआ कांग्रेस का विभाजन, (7) 1971 का भारत-पाक युद्ध, जिससे बांग्लादेश आजाद हुआ, (8) संसदीय चुनावों में कांग्रेस पार्टी की पहली हार, जिसके बाद 1977 में जनता पार्टी की सरकार बनी, (9) 1984 में इंदिरा गांधी की हत्या, जिसके बाद राष्ट्रीय राजधानी में सिख-विरोधी बीभत्स दंगे हुए, (10) बोफोर्स घोटाला और 1989 के चुनावों में राजीव गांधी की पराजय, (11) अटल बिहारी वाजपेयी सरकार द्वारा मई 1998 में पोखरण में नाभिकीय परीक्षण किए जाने से भारत का परमाणु शक्ति-संपन्न राष्ट्र बनना, (12) भाजपा-नीत राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन की पहली गैर-कांग्रेसी सरकार, जिसने छह वर्ष (1998-2004) तक भारत पर शासन किया।

जब मैंने 15 अगस्त पर यह विशेष फीचर देखा तो एकाएक मेरा ध्यान इस ओर गया कि स्वतंत्र भारत में उनपर दी गई मुख्य घटनाओं में से लगभग सभी में या तो मैंने भाग लिया था या उन्हें बहुत नजदीक से देखा था।

अपने वरिष्ठ सहयोगियों श्री अटल बिहारी वाजपेयी और श्री भैरों सिंह शेखावत के साथ भारतीय राजनीति में मैं उन थोड़े से व्यक्तियों में से एक हूँ, जिन्होंने 1952 से हुए प्रत्येक चुनाव में भाग लिया है—या तो एक अभियानकर्ता के रूप में या एक उम्मीदवार के रूप में। आज भी मैं राष्ट्र के सामने खड़े मुद्दों पर संसद् के भीतर व बाहर चल रहीं बहस में एक सक्रिय भागीदार हूँ। इन मुद्दों में भारत-अमेरिका आणविक समझौता तथा उसके कारण हमारी सुरक्षा और विदेश नीति पर पड़नेवाले नकारात्मक प्रभाव भी शामिल हैं।

इस पुस्तक के पाठकों को यह कम-से-कम इतना संदेश तो देना ही है कि मैंने एक लंबा और सक्रिय जीवन बिताया है। एक राष्ट्र, विशेष रूप से हमारे जैसे पुरातन राष्ट्र, के इतिहास में 1947 से 2007 तक की यात्रा बहुत छोटी है। परंतु एक व्यक्ति के जीवन में यह काफी लंबी है। मेरे मामले में, स्वतंत्र भारत की राजनीतिक यात्रा ने मेरी निजी यात्रा को आत्मसात् कर लिया है, जिससे मुझे अवसर मिला है कि मैं देश की राह में आनेवाली महत्वपूर्ण घटनाओं का अवलोकन कर सकूँ और अपने विनम्र अंदाज में उनके घटित होने में सकारात्मक योगदान दे सकूँ। मेरा जीवन काफी घटनापूर्ण रहा है—सक्रियता से लबालब, कई ऊँचे और निचले बिंदुओं को छूता हुआ, परंतु अपनी समग्रता में अति संतोषजनक। वास्तव में वह मेरी आशा से अधिक संतोषपूर्ण रहा है। उसने मुझे बहुत कुछ सिखाया है। उसी ने मुझे वैसा बनाया है, जैसा मैं आज हूँ।

इसीलिए, कुछ समय पहले मेरे मन में एक विचार आकार लेने लगा। “क्यों न अपने संस्मरण लिखूँ?” मैं समझता हूँ, अपने देशवासियों से कहने के लिए मेरे पास कुछ है। मैं जानता

हूँ कि न तो मैं एक इतिहासकार हूँ और न ही राजनीति विज्ञान का विद्वान्, परंतु एक ऐसे व्यक्ति के रूप में, जिसने अपना सारा वयस्क जीवन राष्ट्र की सेवा में बिताया है और अनुभव का खजाना संचित किया है, मैं यह दावा कर सकता हूँ कि मेरे पास कुछ व्यावहारिक और वैचारिक समझ है, जो एक समर्पित, दीर्घकालिक और परिणामोन्मुख राजनीतिक कार्यकर्ता के लिए सुगम है। मैंने महसूस किया कि अब समय आ गया है कि मैं उस अनुभव और समझ को अपने देशवासियों के साथ बाँटूँ तथा कल के भारत के बारे में अपने सपनों और सरोकारों, आकांक्षाओं और आशंकाओं को भी—विशेष रूप से युवाओं के साथ—बाँटूँ।

एक राजनीतिकर्मी होने से मैंने विचारों के प्रचार, उन आदर्शों के संवर्धन, जिनमें मैं विश्वास रखता हूँ, नीतियों के समर्थन या आलोचना और अपनी पार्टी के कार्यक्रमों के प्रसार के लिए संप्रेषण की कला का उपयोग किया है, परंतु मेरे अपने जीवन के बारे में विरले ही कुछ बोला या लिखा है। मैंने किसी साक्षात्कार या लेख में टुकड़ों में भले ही वैसा किया हो, परंतु व्यापक और संगठित रूप से कभी नहीं किया। इसलिए मैंने स्वयं से कहा, “क्यों न अपनी सारी स्मृतियों और विचारों को एक ही उपयुक्त वृत्तांत में पिरो लिया जाए!”

ऐसा सोचने में मैं अकेला नहीं था। मेरी पत्नी कमला और बेटी प्रतिभा के बढ़ते दबाव से यह विचार प्रतिध्वनित होने लगा। अकसर ऐसा लगा कि वे मुझसे ज्यादा उत्सुक थे कि मुझे अपने संस्मरण लिखने चाहिए, “आपने जीवन में इतना कुछ अनुभव किया है। लोगों को इसकी जानकारी होनी चाहिए।” कमला ने अनगिनत बार मुझसे यह कहा। मैं जानता था कि वह उस विचार को स्वर दे रही थीं, जो स्वायत्त रूप से मेरे मन में आकार ले रहा था।

कुछ भी महत्त्वपूर्ण घटित होने के लिए उसका समय आना जरूरी है। कई कारणों से 2007 के आगमन ने कई अप्रतिरोध्य संदर्भ प्रदान किए। पहला, भारत की स्वतंत्रता की साठवीं वर्षगाँठ सिंध से आप्रवास के बाद मेरे जीवन के छह दशक भी पूरा करती थी। दूसरे, नवंबर 2007 में मैं अस्सी वर्ष का हो गया। एक लंबे और स्वस्थ जीवन का वरदान देने में ईश्वर मुझ पर कृपालु रहे हैं। इसी वर्ष मेरे राजनीतिक जीवन के पचपन वर्ष भी पूरे हुए हैं। यह वर्ष एक स्वयंसेवक के रूप में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से पैंसठ वर्षों की मेरी सक्रिय और अनवरत संबद्धता को भी चिह्नित करता है, एक ऐसी संबद्धता जिस पर मुझे अत्यधिक गर्व है। कमला ने इस वर्ष पचहत्तर वर्ष पूरे कर लिये हैं और प्रतिभा ने अपना चालीसवाँ जन्मदिन मनाया। मेरे पुत्र जयंत और पुत्रवधू गीतिका भी मेरे लिए बहुत महत्त्व रखते हैं। मैं अपने देश के लिए जो कुछ भी कर सका हूँ, वह मुख्य रूप से अपने परिवार से मिले असीम प्यार, स्नेह, सहयोग और देखभाल के कारण ही संभव हुआ है।

पुस्तक के विचार ने जल्द ही भौतिक स्वरूप लेना शुरू कर दिया। सम्मानित पाठको, अब यह आपके हाथों में है।



पुस्तक की विषय-वस्तु का संक्षिप्त परिचय देना उपयुक्त होगा। मुझे बताया गया है कि चीनी लिपि में 'संकट' शब्द को दो अक्षरों के योग से लिखा जाता है, पहला अक्षर 'खतरा' को सूचित करता है और दूसरा 'अवसर' को। मेरा अपना जीवन इस तथ्य को बार-बार मेरे सामने लाया है कि इन दो अवधारणाओं के परस्पर संबंध में बड़ी सचाई है। वह चाहे कोई व्यक्ति हो या समुदाय, विपत्ति के हालात एक चुनौती पेश करते हैं। चुनौती व्यक्ति और समुदाय में जो कुछ सर्वोत्तम है, उसे सतह पर ले आती है।

अवसर संकट का ही दूसरा पहलू है, इस बात की वास्तविकता का मेरा पहला अनुभव 1947 में आया, जो मेरे देश और मेरे—दोनों के लिए आमूल परिवर्तन का वर्ष था। वह भारत के इतिहास में और मेरे अपने जीवन में एक विभाजक रेखा के रूप में उपस्थित हुआ। मैंने अपने जीवन का एक-चौथाई भाग—जीवन के पहले बीस वर्ष—सिंध में बिताया है, जो अब पाकिस्तान का एक हिस्सा है। मेरा जन्म वर्ष 1927 में सिंध की राजधानी कराची में हुआ। सन् 1942 में, जब मैंने जीवन के चौदह वर्ष ही पूरे किए थे, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ—एक राष्ट्रवादी संगठन, जो जाति, भाषा और क्षेत्र की विभाजनकारी रेखाओं को लाँघते हुए हिंदू समाज की एकता और भारत की सांस्कृतिक और सभ्यतामूलक विरासत पर आधारित भारत के राष्ट्रीय पुनर्जागरण के प्रति समर्पित था—में शामिल हुआ।

मातृभूमि, स्वतंत्रता, भारत का उज्ज्वल भविष्य! यही वे बातें थीं, जिन्होंने आदर्शवाद, जो उस उम्र की एक अनोखी देन होती है, की ऊर्जा के साथ मेरे युवा मन में घर कर लिया था। देशभक्ति उन दिनों वायु की तरह सर्वव्याप्त थी। लेकिन जैसे-जैसे वर्ष बीते, एक और वास्तविकता, जो व्यथित कर देनेवाली थी, जिसने मेरे मन तथा साथी स्वयंसेवकों के मनों को—जो कराची में रहते थे—जकड़ लिया। सिंध के आसमान पर विभाजन के बादल मँडराने लगे थे। मैं उस समय की राजनीति के बारे में बहुत कम जानता था, परंतु जो कुछ भी जानता था, वह मुझे सतर्क करने के लिए काफी था। हिंदुओं में भय और अनिश्चितता फैलने लगी थी, जो सिंध में अल्पसंख्यक थे। एक अनोखी सुगबुगाहट 'द्विराष्ट्र सिद्धांत' और एक अपरिचित नाम 'पाकिस्तान' धीमे और चिंतित स्वरों में सुनाई देते थे। मैंने सुना कि एक नया मुसलिम राष्ट्र बनाने की तैयारी हो रही है। क्या कराची और सिंध भारत में नहीं रहेंगे? क्या हमें अपना शहर, अपना प्यारा सिंध छोड़ना होगा? यह एक खतरनाक विचार था।

15 अगस्त, 1947 को यह विचार एक हिंसक वास्तविकता बन गया। हमारी मातृभूमि बाँट दी गई। भारत की स्वतंत्रता और पाकिस्तान की रचना अभूतपूर्व नर-संहार और इतिहास के सबसे बड़े सीमा-पार मानवीय विस्थापन के साए में हुई। सांप्रदायिक दंगों के दावानल में लगभग दस लाख लोग मारे गए और लगभग डेढ़ करोड़ लोग शरणार्थी बन गए। मैं भी उनमें से एक था। मैंने 12 सितंबर को कराची हमेशा के लिए छोड़ दिया। अपने घर से टूटकर और बँटवारे की लपटों से

बचते हुए मेरे परिवार को और मुझे भारत माता के आँचल में सुरक्षा और सुकून मिला। यद्यपि वह स्वयं क्षत-विक्षत थी, पर उसने हमें घर जैसा एहसास कराया।

अविभाजित भारत के उन भागों में रहनेवाले हिंदुओं के लिए, जो बाद में पाकिस्तान का हिस्सा बने, विभाजन एक भयंकर आपदा थी। नॉर्थ-वेस्ट फ्रंटियर प्रॉविंसेज और बलूचिस्तान को छोड़कर प्रभावित होनेवाले अन्य मुख्य प्रांत थे पंजाब, बंगाल और सिंध। परंतु जहाँ बंगाल और पंजाब का विभाजन हो गया था, जिससे इन प्रांतों से विस्थापित हिंदुओं को नैसर्गिक घर मिल गया, समूचा सिंध ही पाकिस्तान का हिस्सा बन गया। सिंध में धारपरकर जैसे कुछ जिले थे, जो राजस्थान से सटे हुए थे और जहाँ हिंदू बहुसंख्यक थे। एक अधिक आग्रही और दृढ़ नेतृत्व शायद इन जिलों को भारत में शामिल कराने में सफल रहता; परंतु वैसा नहीं हुआ।

सिंध के हिंदुओं के लिए विभाजन का मतलब केवल अपने घर-परिवार से टूट जाना ही नहीं था, बल्कि इसके साथ ही वह उन्हें दुःखद रूप से अपनी संस्कृति और भाषा से भी दूर ले गया। कई लोगों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि बँटवारे के समय कराची की चार लाख की आबादी में आधे से अधिक लोग हिंदू थे। सिंध की लगभग चालीस लाख की जनसंख्या में से हिंदुओं की संख्या तेरह लाख थी। इनमें से लगभग ग्यारह लाख लोग भारत आ गए। कराची की लगभग समूची हिंदू आबादी प्रवासित हो गई। मुख्यतः एक व्यापारिक समुदाय होने से यद्यपि अधिकांश सिंधी विस्थापित गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान और मध्य प्रदेश चले गए; लेकिन शायद ही ऐसा कोई राज्य होगा जहाँ वे न बस गए हों।

अधिकांश विस्थापित परिवारों के लिए विभाजन एक मानसिक और आर्थिक महासंकट था। उन दिनों रेलगाड़ियों और बस अड्डों पर ऐसे परिवारों के बच्चों को, जो सिंध में काफी समृद्ध थे, टॉफियाँ, कंघे, की-चेन इत्यादि बेचते देखना एक आम दृश्य था। इन कठिनाइयों के बावजूद सिंधियों ने न केवल अपना अस्तित्व बनाए रखा बल्कि उन्होंने भारी उन्नति भी की है। जैसे फिनिक्स पक्षी राख में से उठ खड़ा हुआ था, सिंधी समुदाय भी दुर्दशा और उपेक्षा की खाई से निकलकर उन लोगों में शामिल हुआ, जिन्होंने वाणिज्य, कला, चिकित्सा, इंजीनियरिंग और अन्य कई क्षेत्रों में शीर्ष स्थान प्राप्त किया है। अनिवासी भारतीयों में भी सिंधियों ने अपना एक अलग स्थान बनाया है। शिक्षा, स्वास्थ्य, गरीब बच्चों और वरिष्ठ नागरिकों की देखभाल के उद्देश्य से चलाई जानेवाली लोक-हितैषी गतिविधियों में भी इस समुदाय ने भारी योगदान दिया है। सर्वोपरि, उसने कई तरह की धार्मिक परियोजनाओं, विशेष रूप से तीर्थयात्रा केंद्रों की स्थापना में भी सहयोग दिया है। इस तरह बहुत थोड़े समय में ही सिंधियों ने, जो शरणार्थी बनकर आए थे, पुरुषार्थी और परमार्थी के रूप में प्रशंसा अर्जित की है।

राजनीतिक विश्लेषक आश्चर्य व्यक्त करते हैं कि सिंध और पंजाब से आए हिंदू और सिख इतनी शीघ्रता और सुगमता से स्वतंत्र भारत में कैसे समाकलित हो गए? जबकि भारत के इस भाग

से पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान गए मुसलमानों के साथ दशकों तक अवांछनीय 'मुहाजिरों' की तरह क्यों बरताव किया गया ? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर जो मैं सोच सकता हूँ, वह है सांस्कृतिक एकता का चिरकालिक बोध जो विभिन्न जातियों, समुदायों और क्षेत्रों के भारतीयों को एक स्वाभाविक राष्ट्रीय इकाई के रूप में बाँधे रखता है। सन् 1980 और '90 के दशकों में मैंने इसी विचार को 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के रूप में विकसित किया और उसे इस राष्ट्रव्यापी बहस का विषय बना दिया कि कौन सी बात भारतीय राष्ट्रत्व को परिभाषित करती है। इसी थीम की व्याख्या इस पुस्तक के उद्देश्य का एक महत्वपूर्ण पहलू है।

यदि मैं इस बात को उस विशिष्ट रूप में रख सकूँ तो मैं कहूँगा कि 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' का मेरा पहला अनुभव उस समय हुआ, जब मेरा परिवार सिंध छोड़ने ही वाला था और इस बात पर विचार कर रहा था कि हम भारत के किस भाग में जाएँ। मुझे याद है कि मेरी अस्सी वर्षीया दादी मेरे पिताजी से कह रही थीं, "मुझे काशी ले चलो। मैं अपने शेष वर्ष गंगा के किनारे गुजारना और वहीं अपनी आखिरी साँस लेना चाहती हूँ।" मेरे पिताजी ने उनकी यह इच्छा पूरी की। इस तरह, जब हमें सिंधु के समीप का अपना घर छोड़ना पड़ा तो वह गंगा मैया, जो सार रूप में भारत माता की प्रतीक है, ही थी जिसने हमें स्वीकार किया।



इस संदर्भ में दूसरी बड़ी चुनौती, जिसे मैं याद करना चाहूँगा, वह स्वतंत्रता और आज के लगभग मध्य में अर्थात् 1975 में आई। एक बार फिर एक विपत्ति जो अवसर में बदल दी गई, 11 जून को कांग्रेस पार्टी का अभेद्य माना जाने वाला किला गुजरात ढह गया, जब मोरारजी देसाई के नेतृत्व में 'जनता मोर्चा' के बैनर तले प्रतिपक्षी गठबंधन ने विधानसभा चुनावों में कांग्रेस (इ) को बुरी तरह हराया। उसी दिन राजनारायण द्वारा प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के खिलाफ दायर चुनाव याचिका पर इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने अपना फैसला सुनाया। न्यायालय ने भ्रष्ट चुनावी आचरण का आरोप लगानेवाली चुनाव याचिका स्वीकार करते हुए इंदिरा गांधी का चुनाव निरस्त कर दिया और उन्हें छह वर्षों के लिए संसद् की सदस्यता से अयोग्य घोषित कर दिया।

इन दोनों घटनाओं ने मिलकर सरकार और कांग्रेस पार्टी में राजनीतिक भूचाल ला दिया। उसके कंपन से घटनाओं का एक सिलसिला पैदा हुआ, जिसकी पराकाष्ठा भारतीय संविधान के अनुच्छेद 352 के अंतर्गत देश में आपातकाल घोषित करने में हुई। इस अनुच्छेद का उपयोग चीन (1962) और पाकिस्तान (1965 और 1971) से हुए युद्धों के दौरान पहले भी किया गया था; परंतु 'आंतरिक गड़बड़ी' से निपटने के लिए उसका उपयोग पहली बार किया जा रहा था। बड़ी संख्या में सांसदों और राज्य-विधायकों सहित विरोधी दलों के लाखों कार्यकर्ताओं और नेताओं को जेल में बंद कर दिया गया। इनमें श्रद्धेय लोकनायक जयप्रकाश नारायण भी शामिल थे। अपने वरिष्ठ सहयोगी अटलजी के साथ मुझे बंगलौर सेंट्रल जेल में बंद कर दिया गया, जहाँ मैंने उन्नीस

महीने बिताए। मीडिया पर कड़ी सेंसरशिप लागू कर दी गई। यहाँ तक कि संसद् की काररवाई की रिपोर्टिंग भी सेंसरशिप के दायरे में आ गई। उन्नीस महीनों से अधिक समय के लिए प्रजातंत्र पर ग्रहण लग गया।

इस अवधि के दौरान एक समय तो ऐसा लगा जैसे हमारे देश में प्रजातंत्र कभी लौटेगा नहीं। कांग्रेस पार्टी के 'नेशनल हेरॉल्ड' ने एक दलीय शासन-प्रणाली के गुणगान में भाव-प्रवण संपादकीय लिखे। प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने घोषणा की कि "प्रजातंत्र से राष्ट्र अधिक महत्त्वपूर्ण है।" सर्वव्यापी ऑल इंडिया रेडियो सहित जनसंचार माध्यमों के पूरे संजाल का उपयोग लोगों का ब्रेनवॉश कर उन्हें यह भरोसा दिलाने के लिए किया गया कि स्वतंत्रता, नागरिक अधिकार, प्रेस की आजादी और एक स्वतंत्र न्यायपालिका—ये सभी आभिजात्य अवधारणाएँ हैं, जिनका सामान्य-जन के कल्याण से कुछ लेना-देना नहीं है और यह कि आपातकाल के जरिए भारत की कायापलट के लिए लोगों को कांग्रेस सरकार का कृतज्ञ होना चाहिए।

परंतु मार्च 1977 में, अंत में जब इस मिथ्या प्रचार के परीक्षण का अवसर आया तो राजनीतिक विश्लेषक चकित रह गए। अशिक्षित मतदाता भी इस प्रचार के झाँसे में नहीं आया था। यह कहना शायद पूरी तरह सही न हो कि उसने अभिज्ञता के साथ प्रजातंत्र को बचाने के लिए वोट दिया। परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि उसने पूरी सजगता के साथ इंदिरा गांधी और उनके आपातकाल को अस्वीकार कर दिया। मतपेटी के जरिए साफ-सुथरे ढंग से सत्ता-परिवर्तन कर दिया गया। इंदिरा गांधी के उम्मीदवारों का चुनावी संहार हुआ और दिल्ली में जनता पार्टी की सरकार बनी। प्रजातंत्र पर आया खतरा टल गया था और एक विपत्ति को अवसर में बदल दिया गया था। मुझे गर्व है कि इस रूपांतरण में मैं एक छोटी सी भूमिका अदा कर सका। मोरारजी देसाई की सरकार में सूचना एवं प्रसारण मंत्री के रूप में जंजीरों में जकड़ी प्रेस के विस्तृत और विधि-सम्मत आधार, जो कि आपातकाल का सबसे अधिक घृणित पहलू था, को तोड़ना मुख्यतः मेरी जिम्मेदारी थी। यह पुस्तक आपातकाल की दुःखद कहानी और प्रजातंत्र की विजय की रोमांचक कहानी का विस्तार से वर्णन करती है।



उत्तर-आपातकाल युग में मुझे उस समय अपनी पार्टी का नेतृत्व करने के लिए कहा गया जब भारतीय राजनीति में चार परिवर्तन दिखाई दे रहे थे। पहला, एक लंबे समय से चली आ रही पकी हुई कांग्रेस पार्टी वंशवादी सिद्धांत की गुलाम बन गई थी। दूसरे, संसद् में तत्कालीन कांग्रेस सरकार के पास एक धमकानेवाला भारी बहुमत होने के बावजूद सन् 1986 में शाहबानो विवाद में उसने अल्पसंख्यकों को तुष्ट करनेवाली राजनीति के आगे दयनीयता से घुटने टेक दिए। यह मामला, जिसमें उच्चतम न्यायालय द्वारा बासठ वर्षीया एक विधवा को उसके पूर्व पति से निर्वाह-धन पाने के अधिकार के पक्ष में दिए गए निर्णय को राजीव गांधी सरकार ने विधायिका की शक्ति

से रद्द कर दिया था, मुसलिम महिलाओं की लिंग आधारित न्याय की तलाश में मील का पत्थर बन गया। तीसरे, भारत में भ्रष्टाचार के सबसे बड़े मामले में लिप्त होने से सरकार के नेतृत्व ने स्वयं को कलंकित कर लिया था और इसी कारण 1989 के संसदीय चुनावों में उसे पराजय का सामना करना पड़ा था। अंत में, भगवान् राम के जन्मस्थान अयोध्या में उनकी प्रतिष्ठा के अनुरूप एक मंदिर के निर्माण की हिंदुओं की उचित माँग का कुछ छद्म धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक दलों ने विरोध किया; इनके कुछ नेता निजी तौर पर इस माँग को उचित समझते थे, लेकिन वोट-बैंक का खयाल करके सार्वजनिक रूप से ऐसा कहने से डरते थे।

मंदिर के पुनर्निर्माण के लिए चलाए जा रहे आंदोलन में मेरी पार्टी की सक्रिय भागीदारी ने स्वतंत्र भारत के इतिहास में सबसे बड़े जन-आंदोलन को जन्म दिया। सितंबर-अक्तूबर 1990 में सोमनाथ से अयोध्या तक की मेरी 'राम रथयात्रा' को मिला अपूर्व जन-समर्थन मेरी अपनी अपेक्षाओं से कहीं अधिक था। जिस तरह आपातकाल के खिलाफ संघर्ष ने प्रजातंत्र में भारत के लोगों के अटूट विश्वास को लेकर मेरी आँखें खोल दी थीं, उसी तरह अयोध्या आंदोलन ने संपूर्ण देश में सभी जातियों और पंथों के हिंदुओं के जीवन में धर्म के गहरे प्रभाव के प्रति मेरी आँखें खोल दीं। यह याद करते हुए कि स्वामी विवेकानंद ने भारत के राष्ट्रीय जीवन में धर्म के स्थान के बारे में क्या कहा था, मैंने महसूस किया कि यदि इस धार्मिकता को एक सकारात्मक दिशा में मोड़ दिया जाए तो राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिए वह अद्भुत ऊर्जा का संचार कर सकती है। अयोध्या आंदोलन ने छद्म धर्मनिरपेक्षता, जो कांग्रेस पार्टी, कम्युनिस्टों और कुछ अन्य दलों द्वारा व्यवहार में लाई जाती है—के प्रति लोगों की जुगुप्सा को भी सामने लाने का कार्य किया है और उसने मेरी पार्टी भाजपा को सच्ची धर्मनिरपेक्षता के ध्वजारोहक के रूप में प्रस्तुत किया है।

छद्म धर्मनिरपेक्षता और सच्ची धर्मनिरपेक्षता के बीच का द्वंद्व आज भी कई रूपों में प्रकट होता है और वह इस पुस्तक के मुख्य विषयों में से एक है। मैं यह कहने का साहस रखता हूँ कि भारत का भविष्य काफी हद तक इस संघर्ष के परिणाम पर निर्भर है।

यह कहते हुए, अपने मन में काफी पीड़ा के साथ, मैं यह भी महसूस करता हूँ कि अयोध्या आंदोलन जिस रास्ते पर चला, वह ठीक वैसा ही नहीं था जैसी मैंने कल्पना की थी। विशेष रूप से 6 दिसंबर, 1992 को बाबरी ढाँचे का गिराया जाना अत्यंत खेदजनक था। जैसा कि मैंने उसी दिन कहा था, वह मेरे जीवन का सबसे दुःखद दिन था। यदि बाबरी विध्वंस न हुआ होता तो मुझे विश्वास है कि अयोध्या आंदोलन अधिक स्वस्थ रीति से आगे बढ़ा होता और एक सकारात्मक समापन तक पहुँचा होता, जिससे हिंदुओं की माँग भी पूरी हो जाती और सांप्रदायिक सद्भाव भी बना रहता।

अयोध्या आंदोलन ने देश भर में एक विचारधारात्मक मंथन की प्रक्रिया में उत्प्रेरक का कार्य किया, जिससे भारत के राजनीतिक इतिहास और शायद विश्व के किसी भी प्रजातांत्रिक देश के

इतिहास में मेरी पार्टी ने सबसे शानदार प्रदर्शन किया। भाजपा के इस उत्थान की परिणति मार्च 1998 में केंद्र में भारत की पहली सही मायने में एक गैर-कांग्रेसी गठबंधन—वाजपेयीजी के नेतृत्व में बना राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (राजग)—सरकार के गठन के रूप में हुई। 1999 में एक नवीनीकृत जनादेश के साथ उस सरकार ने पूर्ण समर्पण और विशिष्टता के साथ छह साल तक देश की सेवा की। इस सरकार में वाजपेयी के सहयोगी के रूप में मुझे गृह मंत्रालय का विनिर्दिष्ट कार्यभार सौंपा गया था। मेरी भूमिका मेरे लिए अति संतोषजनक थी। राष्ट्रीय सुरक्षा और राष्ट्रीय विकास में राजग सरकार की कई उपलब्धियों पर मुझे गर्व है। उनमें से कुछ, जैसे भारत को परमाणु शक्ति-संपन्न बनाने का साहसी निर्णय और पाकिस्तान के विश्वासघात के बावजूद उससे अपने संबंधों को सामान्य बनाने के लिए ईमानदारी के साथ किए गए हमारे प्रयास देश के इतिहास में अमिट रहेंगे। यह इतिहास में दर्ज होगा कि वाजपेयी के नेतृत्व में भारत एक अधिक शक्तिशाली राष्ट्र, एक अधिक आत्मविश्वासपूर्ण राष्ट्र बना। स्वाभाविक रूप से इस पुस्तक का एक बड़ा भाग हमारी पार्टी के छह वर्ष के शासनकाल के दौरान हुई उपलब्धियों और दबावों को समर्पित किया गया है।



मई 2004 के संसदीय चुनावों में भाजपा-नीत राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन की अप्रत्याशित पराजय ने मेरी पार्टी के सामने एक नई चुनौती पेश की। इस पुस्तक में इस पराजय के लिए जिम्मेदार घटकों के अपने हिस्से को मैंने स्वीकार किया है। मैं समझता हूँ कि कई चीजें कुछ अलग ढंग से की जा सकती थीं और इन्हीं भूलों ने कांग्रेस की जीत तथा भाजपा की हार में मुख्य भूमिका निभाई है। संख्या की दृष्टि से कितने कम अंतर से वह पराजय हुई थी।

भाजपा की पराजय भी उसकी एक चिरस्थायी उपलब्धि पर परदा नहीं डाल सकती—वह है भारतीय राज्यतंत्र, जो एक अकेली पार्टी के प्रभुत्व में हुआ करता था, उसे द्वि-ध्रुवीय बनाने में मेरी पार्टी की सफलता। हम यह दावा तो नहीं करते कि हमने उसे द्वि-दलीय प्रणालीवाला बना दिया है, परंतु इससे कोई इनकार नहीं कर सकता कि अब वह द्वि-ध्रुवीय है, जिसमें भाजपा और कांग्रेस दो मुख्य ध्रुव हैं, जिनके आस-पास भारत का राजनीतिक तारामंडल प्रकट और पुनः प्रकट होगा। यह पुस्तक इसकी गाथा बयान करने का प्रयास करेगी कि इसे कैसे प्राप्त किया गया और भारत के प्रजातंत्र व विकास में इसके निहितार्थ क्या हैं।

जिस समय मैं यह पुस्तक लिख रहा हूँ, मेरी पार्टी मई 2004 से ही आत्ममंथन की लंबी प्रक्रिया से गुजर चुकी है। कई सबक सीखने जरूरी हैं और वे सीखे जा रहे हैं। कई दोष-निवारक उपयोग किए जाने जरूरी हैं और वे सचमुच इस्तेमाल किए जा रहे हैं। मुझे आशा है कि पाठक मेरी पार्टी के और मेरे अपने राजनीतिक जीवन के इस निर्णायक मोड़ पर इस विषय पर विचार प्रकट करने में स्पष्टवादिता की कमी नहीं पाएँगे। स्पष्टवादिता के साथ ही आत्मविश्वास भी आता

है, क्योंकि मुझे इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं है कि भाजपा फिर सत्ता में आएगी।

यह आशावाद कई घटकों पर आधारित है। पहला, भारत के राज्यतंत्र के वर्तमान विखंडन के बावजूद हमारे प्रजातंत्र को दो विशिष्ट ध्रुवों की तरह हमेशा दो स्थिर राष्ट्रीय पार्टियों की आवश्यकता होगी, जिनसे अन्य छोटे दल संलग्न हो सकें। एक राष्ट्रीय और राष्ट्रवादी पार्टी के रूप में, भारत के समग्र विकास में प्रकाश-स्तंभ के रूप में और सुशासन के प्रदाता के रूप में भाजपा इस आवश्यकता को पूरा करती है।

परंतु मेरी आशा का दूसरा कारण है। 1951 से, जब जन संघ का जन्म हुआ था, हमारी पार्टी ने सायास एक सामान्य लक्ष्य के लिए साथ-साथ कार्य करने की संस्कृति विकसित की है। यहाँ मुझे 2003 में हुई एक सुखद घटना याद आती है। शेखावतजी, जो हाल तक भारत के उपराष्ट्रपति रहे हैं और मैं, जो उस समय उपप्रधानमंत्री था, हम दोनों वाजपेयीजी के जन्मदिन पर बधाई देने के लिए 25 दिसंबर को उनके निवास पर गए थे। एक कैमरामैन ने हम तीनों का फोटो खींच लिया, जिसमें वे दोनों अपनी कुरसी पर बैठे थे और मैं उनके पीछे खड़ा था। अगले दिन व्यापक रूप से प्रसारित हिंदी दैनिक 'दैनिक जागरण' ने न केवल वह रंगीन चित्र प्रकाशित किया बल्कि एक लगभग वैसा ही श्वेत-श्याम चित्र, जो हमारे युवा दिनों का था, उसके साथ ही छाप दिया। असल में, वह दूसरा चित्र 1952 में कोटा, राजस्थान में लिया गया था, जहाँ नवगठित जन संघ से जुड़े लोग एक मीटिंग के लिए एकत्र हुए थे। 'दैनिक जागरण' के दोनों चित्रों का एक ही शीर्षक था— 'आधी सदी से अधिक समय से साथ-साथ कार्य करते हुए।' पार्टी के अंदर वाजपेयी और अन्य सहयोगियों के साथ यह लंबा साहचर्य मेरे राजनीतिक जीवन का एक गौरवशाली और अनमोल खजाना है।

मेरी यह उत्कट आशा है कि विभिन्न स्तरों पर आसीन मेरी पार्टी के नेता—आज के और कल आनेवाले—साहचर्य की उस संस्कृति को आत्मसात् कर लेंगे और एकता की भावना को बनाए रखेंगे।



मैं जब भी पीछे मुड़कर पिछले छह दशकों की भारत की राजनीतिक यात्रा को देखता हूँ तो 1947 की अपूर्ण आकांक्षाओं और साकार नहीं किए गए सपनों के अंबार को देखकर मन की गहराई में उदास हो जाता हूँ। हर वर्ष मेरी सर्वाधिक पीड़ा का क्षण वह होता है जब मैं ट्रांसपैरेंसी इंटरनेशनल और यूनाइटेड नेशंस की दो वार्षिक रिपोर्टें देखता हूँ। ट्रांसपैरेंसी इंटरनेशनल की वार्षिक रिपोर्ट भ्रष्टाचार सूचकांक के आधार पर देशों को दर्जा प्रदान करती है, जिसमें विश्व के सबसे भ्रष्ट देशों में भारत को हमेशा ऊँचा दर्जा दिया जाता है तथा मानव विकास सूचकांक पर यूनाइटेड नेशंस की वार्षिक रिपोर्ट भारत को उन देशों के साथ निचले क्रम में रखती है, जिनका इस मामले में प्रदर्शन फिसड्डी है। हमारी अर्थव्यवस्था की कुछ दिखाई देनेवाली कामयाबियों के

बावजूद मानव विकास सूचकांक में हमारी स्थिति विश्व के सौ से अधिक देशों से नीचे है और विकास के कुछ मानदंडों पर वह हमें अफ्रीका के सहारा खंड के देशों की श्रेणी में रखती है। हम करोड़ों देशवासियों को अब तक पीने का स्वच्छ पानी उपलब्ध नहीं करा पाए हैं। शहरी और ग्रामीण दोनों क्षेत्रों में हमारी आधे से अधिक आबादी एक स्वच्छ शौचालय जैसी बुनियादी सुविधा से वंचित है। ग्रामीण और सुदूर क्षेत्रों में भूख हमारे कई देशवासियों को अब भी शिकार बना लेती है और इन अभावों के परिणामस्वरूप हमने अपने निर्धन देशवासियों को, जिनमें से अधिकांश के पास ठीक-ठाक मकान भी नहीं हैं, इन बीमारियों के हवाले कर दिया है, जिनसे बचा जा सकता है, लेकिन जो अकसर जानलेवा सिद्ध होती हैं। इससे ज्यादा शर्म की बात क्या हो सकती है कि हमारे आदिवासी क्षेत्रों में कई शिशु कुपोषण की वजह से मर जाते हैं या यह कि हमारे देश में लगभग दो करोड़ लोग शारीरिक या मानसिक रूप से अक्षम हैं? और इस तथ्य से ज्यादा दिल दहलानेवाली बात क्या होगी कि हाल के वर्षों में समस्त देश में कई हजार किसानों ने आत्महत्या कर ली है? सामाजिक अन्याय और महिलाओं पर अत्याचार मेरे मन में खलबली मचाते हैं। हमारे लाखों बच्चों—जिन्हें मेहनत-मजदूरी करने के लिए बाध्य होना पड़ता है, जबकि उन्हें खेलना और पढ़ना चाहिए—का खोया हुआ बचपन मेरे हृदय में उदासी भर देता है। हमारी शहरी झुग्गी बस्तियों की गंदगी और हमारे कई गाँवों का उजाड़ा हुआ रूप मुझे शर्मिंदा कर देता है—और ये निश्चय ही किसी भी विचारशील व्यक्ति को शर्मिंदा कर देंगे—कि हमारी विकास प्रक्रिया में कोई गंभीर चूक हुई है।

यह सच है कि कुछ समग्र मानदंडों के अनुसार हमारी अर्थव्यवस्था जिन ऊँचाइयों को छू रही है, वह पहले कभी नहीं देखी गई। आज की ऊँची जी.डी.पी. (सकल घरेलू उत्पाद) विकास दरों ने लाइसेंस-परमिट-कोटा राज, जिसने हमारे लोगों की उद्यमशीलता का गला घोट दिया था, के युग में हुई धीमी गति के विकास को बहुत पीछे छोड़ दिया है। परंतु विकास एक आँकड़े से कुछ अधिक होना चाहिए, जो प्रकट करने से अधिक छिपाता है। तकनीकी रूप से यह सच है कि वृद्धि दर 9 प्रतिशत है, परंतु यह वृद्धि भौगोलिक और जनसांख्यिकीय खंडों तक व्याप्त नहीं है। समूचे भारत की आर्थिक वृद्धि 9 प्रतिशत की दर से नहीं हो रही है। भारत का एक छोटा सा हिस्सा 20 प्रतिशत या इससे भी अधिक की दर से बढ़ रहा हो, लेकिन अधिकांश भारत में यदि कोई वृद्धि हो तो भी वह वृद्धि के निचले अंक पर ही अटका हुआ है। विकास का 'रिसाव सिद्धांत' इस धर्म-संकट का एक असमान उत्तर है और प्रजातंत्र में देर तक नहीं चल सकता, क्योंकि 'वंचित' बहुसंख्यक जनता, जो विकास की बूँदों के रिसने का इंतजार कर रही हैं, साफ तौर पर देख रही है कि विकास के 'लाभान्वितों' के लिए उसका झरना बह रहा है। यह स्थिति पूरे भारत में संघर्ष के गंभीर स्तरों को जन्म दे रही है। स्पष्ट रूप से अब समय आ गया है कि हम अपनी आर्थिक नीति पर कड़ी नजर डालें। हमें पूरी ईमानदारी से स्वयं से पूछना चाहिए—इस (आर्थिक नीति) ने भारत

के गरीबों को वह सब क्यों नहीं दिया, जो उसने अमीरों को दिया है ?

हम दूसरे मोरचों पर भी असफल हो रहे हैं। भारत राष्ट्र-विरोधी बाहरी शक्तियों द्वारा प्रवर्तित आतंकवाद, जो सामाजिक शांति और आंतरिक सुरक्षा के लिए एक बड़ा खतरा है, के प्रति अब भी नरम बना हुआ है। संसद् और न्यायपालिका सहित हमारी कई जनतांत्रिक संस्थाएँ हमारी जनता की अपेक्षाओं के अनुरूप कार्य नहीं कर रही हैं। यह सच है कि हमारे यहाँ सावधि चुनावों के बाद सत्ता का हस्तांतरण हमेशा सुगम और शांतिपूर्ण रहा है। परंतु बढ़ते हुए धन और बाहुबल के उपयोग से चुनाव प्रणाली कमजोर हो चुकी है। विविधता सचमुच हमारी शक्ति है, परंतु कभी-कभी विविधता के इस बिंदु पर इतने एकतरफा ढंग से जोर दिया जाता है कि वह राष्ट्रीय एकता और सामाजिक समरसता को हानि पहुँचाता है।

मैंने इन सरोकारों का जिक्र इसलिए किया है, क्योंकि एक बेहतर भारत के निर्माण की हमारी आकांक्षा तभी पूरी हो सकती है जब हम इनसे निपटने की क्षमता विकसित करें। इस पुस्तक में मैंने भविष्य में किए जानेवाले कार्यों पर कुछ विचार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।



पाठकों को शायद यह स्पष्ट हो गया होगा कि मेरे संस्मरण केवल भारत के भूतकाल के बारे में ही नहीं हैं, वे भारत के भविष्य के बारे में भी हैं। इस पुस्तक को लिखते समय भारतीय युवाओं—आज के और भावी पीढ़ियों के—से संवाद करने की आवश्यकता को सबसे ऊपर रखा है। जब मैं स्वतंत्रता के साठवें वर्ष से आगे की ओर देखता हूँ तो भारत के भविष्य के प्रति आशावान् होने का सबसे बड़ा कारण हमारी युवा जनसंख्या ही है। 103 करोड़ की हमारी आबादी में से 60 प्रतिशत से अधिक लोग पच्चीस वर्ष से कम आयु के हैं। यह उनकी केवल संख्यात्मक शक्ति ही नहीं है बल्कि उनकी बढ़ती हुई महत्वाकांक्षाओं और बढ़ी हुई क्षमताओं ने मुझमें विश्वास जगाया है कि इक्कीसवीं सदी के आने वाले दशकों में भारत की चमक और अधिक उज्ज्वल होगी, क्योंकि ये ही वह निर्माण करेंगे जो हम नहीं कर पाए; ये ही उन कार्यों को पूरा करेंगे, जिन्हें हम पूरा नहीं कर पाए और ये ही उपलब्धियों के नए अध्याय जोड़ेंगे, जिनकी अंतर्वस्तु की हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

## मेरे जीवन के पाँच चरण

अब पुस्तक के ढाँचे के बारे में कुछ शब्द। मैंने अब तक के अपने जीवन को पाँच चरणों में बाँटा है। दो दशकों का पहला चरण 1927 से 1947 तक का है, जो मैंने सिंध में और निश्चित रूप से कराची में बिताया। दूसरा चरण 1947 से 1957 तक एक दशक चला, जब मैंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के एक प्रचारक और भारतीय जन संघ के कार्यकर्ता के रूप में राजस्थान में कार्य किया। इस चरण ने सार्वजनिक जीवन और राजनीति में मुझे प्रारंभिक शिक्षा प्रदान की। इसी ने मेरे

संगठन की विचारधारा और आदर्शवाद को समर्पित एक सादगीपूर्ण एवं अनुशासित जीवन जीने के मेरे संकल्प को मजबूती दी। तीसरा चरण 1957 से 1977 तक दो दशक चला। इसकी शुरुआत जन संघ के मुख्य दार्शनिक, मार्गदर्शक और संगठनकर्ता पं. दीनदयाल उपाध्याय द्वारा मुझे अपना कार्यक्षेत्र दिल्ली में बनाने और अटलजी, जो उस समय हाल ही में लोकसभा के लिए पहली बार निर्वाचित हुए थे, के राजनीतिक सहयोगी के रूप में कार्य करने के अनुरोध से हुई। उन्हीं दो दशकों के दौरान मैंने राजनीतिक संगठन, राजनीतिक रणनीति और नेतृत्व के उन्नत अनुभव प्राप्त किए।

1977 से 1997 तक के चौथे चरण को मैं पिछले चरण की निरंतरता के रूप में ही देखता हूँ, क्योंकि इन दो दशकों में राष्ट्रीय राजधानी में मुझे और अधिक राजनीतिक एवं संगठनात्मक जिम्मेदारियाँ सौंपी गईं। यही वह चरण था, जिसने भारतीय राजनीति में कई नाटकीय परिवर्तन देखे। पाँचवाँ चरण 1997 से 2007 तक के दशक की कहानी कहता है। यह वह समय है जब मुझे शासन में बड़ी जिम्मेदारी उठानी पड़ी। इस अनुभव ने तेजी से बदलते भारत के सामने आनेवाली चुनौतियों और अवसरों की एक बेहतर समझ हासिल करने में मेरी सहायता की।

पाँचवें चरण के साथ ही यह पुस्तक भी समाप्त हो जाएगी, परंतु भारत के राजनीतिक जीवन में मेरी सक्रिय भागीदारी जारी रहेगी। पार्टी के एक अनुशासित सैनिक की तरह मुझे जो भी जिम्मेदारियाँ सौंपी जाएँगी, मैं पूरी कर्तव्यनिष्ठा के साथ उनका निर्वाह करूँगा। कर्तव्य, समर्पण और अनुशासन— ये तीन सिद्धांत हैं, जिन्हें एक राजनीतिककर्मी के रूप में अपना जीवन शुरू करने से पहले मैंने सीखा था। जब तक मैं सार्वजनिक जीवन में सक्रिय हूँ, इनके द्वारा संचालित होता रहूँगा।



कोई आत्मकथा जितना पाठकों के साथ संवाद करती है, उतना ही वह स्वयं से भी। इसीलिए मैं अपनी सीमाओं और कमजोरियों के बारे में जागरूक हूँ। मुझे उन गलतियों का भी एहसास है, जो मैंने जीवन में की हैं। यह पुस्तक उन्हें कम करके दिखाने का कोई प्रयास नहीं करेगी। घटनाओं और मुद्दों पर मेरे दृष्टिकोण एवं विश्लेषण से पाठक सहमत या असहमत हो सकते हैं। यह उनका अहरणीय अधिकार है। परंतु वे एक ऐसा लेखक पाएँगे, जो उनके प्रति और स्वयं के प्रति भी ईमानदार है।

पुस्तकों के साथ अपने लंबे सान्निध्य से मैं जानता हूँ कि एक बार लिखने और प्रकाशित होने के बाद एक पुस्तक पाठकों की भी उतनी ही हो जाती है जितनी कि लेखक की। इसलिए यदि यह पुस्तक पाठकों को कुछ अर्थपूर्ण बातें संप्रेषित करने में सफल होती है तो मुझे संतोष होगा कि इसका प्रकाशन सचमुच एक सार्थक प्रयास है।

भा.ल. आडवाणी  
( लालकृष्ण आडवाणी )

नई दिल्ली, 01 मार्च, 2008